From *Dastan-e Lapata*, by Manzoor Ahtesham
© Manzoor Ahtesham, 1995

उस ज़माने में चोर-पुलिस के अलावा सब लोगों का दूसरा प्रिय खेल बड़े घर के बाहर के कमरे में सिनेमा होता था। इसमें भी विशेष भूमिका अपयैया ही [जो एक गूँगा ख़ालाज़ाद भाई है] निभाते थे...

...[कमरे के] बाहर से गुज़ारती कोई आकृति जैसे ही इस प्रोजेक्टर की मार में आती, कमरे के स्क्रीन पर उलटी टँग जाती और दायें या बायें आकृति की असली चाल की उलटी दिशा में चलती हुई तब तक टँगी रहती जब तक कि उसकी रेंज से बाहर न निकल जाती।

अँधेरे-उजाले का यह खेल एक तिलिस्म था जो किसी तरह बासी पड़ने को न आता था। वैसे भी असली सिनेमा देखना तो तब बुज़ुर्ग बहुत बुरी चीज़ समझते थे और कभी भूले-भटके ही किसी फ़िल्म को देखने की इजाज़त मिलती थी, इसलिए यह बाहर के कमरे का सिनेमा मनोरंजन का एक ऐसा ही साधन था जैसे इन दिनों टी॰ वी॰ हो गया है। न टिकट लेने की ज़रूरत, न शो के टाइम की ख़ास पाबंदी। जब तक तबीयत हुई देखा, जब मन हुआ सामने से उठ गए। गर्मियों की उन लंबी दोपहरों का विशेष इंतज़ार होता, जब सूर्य की दिशा उपयुक्त होती और बाहर का कमरा सिनेमा की तरह उपयोग के लिए ख़ाली होता। होने को ऐसी मनहूस दोपहरें भी होतीं जब कोई बड़ों से मिलनेवाला दुआओं के सारी पुल ध्वस्त करता आ जाता और सारी दोपहर बतियाता, क़हक़हे लगाता, पान खाता, पीक थूकता एक क़ीमती दिन बरबाद करके चला जाता। उस दौरान उन लोगों की भीड़, अस्त होते सूरज के ख़याल से, पस्त-हौसला कोने-कोचरों में खड़ी एक-दूसरे को सवालिया नज़रों से देखती रह जाती थी...

...सिनेमा के इन मैटिनी शोज़ के हीरो भी अपयैया ही बनाए जाते। कमरे में बैठकर बाहर से गुज़रनेवाले किसी राहगीर का इंतज़ार उबाऊ होता था, इसलिए सिनेमा देखनेवाले खुद बारी-बारी बाहर धूप में जाकर तमाशा करने का तय करते जिसे अन्य लोग अंदर बैठकर स्क्रीन पर देखते। गर्मियों की उन चिलचिलाती दोपहरों को जब चीलें आकाश में अंडा छोड़ रही होतीं, यह थोड़ी देर की अदाकारी भी लोगों पे भारी पड़ती थी। इसलिये लोग जल्दी-जल्दी अपनी बारी निबटाने के बाद कमरे के अँधेरे और ठंडक में आ बैठते और तब नंबर आता अपयैया का। और ईमानदारी की बात यह कि जो काम अपयैया करते थे वह किसी और के बूते का था भी नहीं। दीवार पर टँगी उनके शरीर की उलटी आकृति जो-जो मुद्राएँ उछल-कूद और नाच दिखाती उसके मोह में बँधे दर्शक उन्हें मुकर्रर-मुकर्रर धूप में भेजने पर खुद को बाध्य समझते। बिना साउंड, बिना रंग की उन छोटी-छोटी फ़िल्मों में सिर्फ़ एक्शन-ही-एक्शन होता, क्या-और-कैसे जैसे छिछल और भंगुर प्रश्नों से मुक्त, गहरे आध्यात्मिक समुद्र के रहस्यों के बीच गोता लगाता। अपयैया के अंदाज़े से (और अंदाज़ा उनका सही होता था) जब उसकी बारी का समय पूरा हो जाता तो वह पसीना पोंछते अंदर आ बैठने के लिये दरवाज़ा खटखटाते। सब आपस में मिलकर या तो सामूहिक वाह-वाह करके इशारों में उन्हें दाद देकर दोबारा, दोबारा धूप में लौटने, तमाशा दिखाने, नाचने, उछलने-कूदने पर मजबूर करते रहते। अगर कभी वह बाहर न जाने पर अड़ ही जाएँ तो इस अंजाम से खूब बाख़बर कि अब जब कमरे में अँधेरा होगा तो लोग उसका फ़ायदा उठाते हुए उनकी धपियाई करने की कोशिश करेंगे और चैन से नहीं बैठने देंगे।